ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL**04292**
RNI REG. NO. UPBIL/**2014/66218** **PP. No.- 146-149**
I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.- IV, Issues-38, YEAR- Oct.-Dec.2025

तुलसीराम : मुर्दहिया में चित्रित समाज

डॉ0 कृष्णकान्त चन्द्रा
प्रोफेसर– हिन्दी विभाग, जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल पी0जी0 कॉलेज, बाराबंकी (उ0प्र0) भारत

Received-16.10.2025, Revised-25.10.2025, Accepted-01.11.2025 **E-mail : dr.kkchandra@gmail.com**

सारांशः भारतीय सामाजिक संरचना अर्थात् हिन्दू सामाजिक संरचना में दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों को सभी मानवीय अधिकारों से पूर्णतः वंचित रखा गया। उसके मन–मस्तिष्क को गुलाम बनाकर, ''जाति और वर्णाश्रयी मूल्यों'' को मनवाया और आत्मसात् करवाया गया। इन शोषणवादी मूल्यों को अस्वीकार करने पर, उन पर जबरदस्ती थोपा गया। इतना ही नहीं उनकी व्यवहारिक बुद्धि को भी कुंद कर दिया गया और उसे ज्ञान के सभी अनुशासनों में प्रवेश से दूर रखा गया। इस तरह मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग गढ़ा और खड़ा किया गया जो पूर्णतः 'श्रम और सेवा' करने के लिए हो।

कुंजीभूत शब्द– नॉलेज, इन्द्रियाँ, बौद्धिक ज्ञान, अस्तित्व, गुलदस्ता, संयोजन, वेत्ति, विद्यते, विन्दति, विद्या विनये, विद्या सीमा, द्वेष।

इस व्यवस्था ने हजारों साल से दलितों को वेदना और कष्ट दिया है। दलितों की दुःख की दास्तान केवल गरीबी, भूख और बेघर की ही नहीं है बल्कि उन्हें इस समाज से बिल्कुल अलग कर दिया गया। जिस कारण उन्हें आज यह दिन देखना पड़ रहा है। ''मुर्दहिया'' का दलित समाज ही नहीं, पूरे देश का दलित समाज इससे पीड़ित है। 'हिन्दू सामाजिक संरचना' जातियों में बँटी और गुथी हुई है। किसी भी उत्सव में सबकी भागीदारी जरूरी है। 'विवाहोत्सव' में ही हर जाति की भूमिका अलग–अलग होती है। 'ब्राह्मण' यदि विवाह का मंत्र पढ़ता है, तो वहीं बढ़ई उसी मंडप को बाँसों से बनाता है, दूल्हा–दुल्हन को बैठने के लिए 'पीढ़ा' बनाता है। जिस पर बैठकर दूल्हा–दुल्हन मंत्र पढ़ते हैं। 'नाई' सबको विवाहोत्सव का आमंत्रण पत्र पहुँचाता है और सभी पुरूषों के 'नाखून और बाल' काटता है तो 'नाइन' सभी स्त्रियों के पैरों के नाखून काटती और रंगती है। वह विवाहोत्सव के मंडप में स्त्री के साथ होती है और नाऊ पुरूष के साथ। कुम्हार पुरवा बनाकर देता है, जिसमें सभी बाराती पानी पीते हैं। 'कहार' जाति के लोग लगातार पानी देते हैं। जाति आधारित इस देश में निचले पायदान की सबसे निचली जाति – 'मुसहर' जाति बरगद के पत्तों से पत्तल बनाकर देता है जिसमें सभी बाराती भोजन करते हैं। उन जूठे पत्तलों को 'चमार' जाति के लोग उठाते हैं। इस तरह जाति आधारित यह देश 'बटा' और 'गुथा' हुआ है। सबके सहयोग से कोई कार्य सम्पन्न होता है। यह लोक मन है जो हर सुख दुख में साथ रहता है। लेकिन इसका जातीय चरित्र वहाँ उभरता है जहाँ 'रोटी और बेटी' की बात आती है। वहाँ इस जाति और वर्णाश्रयी मूल्यों के आस्था की 'सॉट सोशल इंजीनियरिंग' साफ दिखती है, तुम दलित हो, मैं ब्राह्मण हूँ के रूप में।

दलितों के साथ न्याय तो दूर उन्हें इस कार्य के बदले ''राक्षस'' कहकर उच्च समाज से अलग कर दिया गया। यही कारण है कि दलित धीरे–धीरे अपने साथ हो रहे अमानवीय अत्याचार की संरचना को तोड़ने के लिए 'नकार' और विद्रोह की राह पकड़ लेने में ही अपनी भलाई समझने लगा। शायद इसी ने उनमें अपने अधिकारों के लिए लड़ना भी सिखा दिया। इस व्यवस्था से आहत दलितों के लिए बुद्ध एक नई ज्योति की राह दिखाते हैं। उन्होंने वर्ण और जाति पर तीखा प्रहार करते हुए उनकी मानवीय मुक्ति का प्रयास करते हैं। दलित साहित्यकारों ने इसी अपमान से क्रुद्ध होकर इस व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न खड़ा किए तथा तार्किकता के साथ विरोध और प्रहार भी किए।

''ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि – ''ऐसी वर्ण–व्यवस्था से उपजी विषमताओं और विसंगतियों को दृष्टि में रखकर ही दलित साहित्य का विश्लेषण करके, सौन्दर्यशास्त्र और साहित्यिक मूल्यांकन के अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। साहित्यिक सृजन दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उसे पहचानने का भी एक साधन है। साहित्य और कला के प्रति यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था में साहित्य के महत्त्व का उचित मूल्यांकन भी है। ..... प्रकृति की तरह साहित्य, समाज और चिन्तन भी परिवर्तनशील है। ऐसा कोई शाश्वत सिद्धान्त नहीं है, जिसके आधार पर सौन्दर्य मूल्य निर्धारित किए जा सके।''

भारतीय समाज व्यवस्था में वर्ण–व्यवस्था वह जिरह बख्तर है, जिस पर लगातार हमले होते रहे हैं, पर वह टूट नहीं पायी। दलित साहित्य उसे तोड़ देने का दावा तो नहीं करता, पर उस व्यवस्था से आक्रान्त जनों के सम्मान और सामाजिक समानता की बात जरूर करता है। यदि उसे मुख्यधारा द्वारा यह समानता और सम्मान नहीं मिलता तो उसके लिए वह अपने समाज और समुदाय में ही मुख्यधारा से अलग व्यवस्था, संस्कार और संस्कृति गढ़ता है। वह मुख्यधारा से अलग सौन्दर्यशास्त्र गढ़ता है। भाषा, सामाजिक रीति–रिवाज, धर्म और संस्कृति, सब में वह अपने को मुख्यधारा से अलग दिखलाने की कोशिश करता है। यह कोशिश अनायास नहीं है, दलित चेतना को जहाँ भी सम्मान और समानता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, उसने उसे अपना आधार बनाया। समाज का आधार और यह बँटवारा शूद्रों के प्रति एक विषम दीवार को खड़ा करता है जिसे तोड़ना ही इस समुदाय का मुख्य उद्देश्य है। चली आ रही बनी बनाई इस ढोगी परम्परा को ढोना मूर्खता है। जिसका जमकर विरोध होना चाहिए।

''दलित साहित्य का मानना है कि बीसवीं सदी में वर्ण–व्यवस्था के विरूद्ध सबसे बड़ा सामाजिक आन्दोलन डॉ0 अम्बेडकर ने किया, जिससे वर्ण–व्यवस्था की रीढ़ थोड़ी झुकती दिखाई पड़ी। अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित कर उसकी मानवीय संवेदना समानता और बन्धुत्व के सिद्धान्त के आधार पर वर्ण–व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष छेड़ा। इसके पूर्व जोतिबा फुले, पेरियार आदि अनेक महापुरूषों ने दलित आन्दोलन और समाज सुधार के काम किये थे, जो महात्मा गाँधी आदि महापुरूषों द्वारा चलाये गये दलित उद्धार कार्यक्रम से नितान्त भिन्न थे। दलित साहित्य मानता है कि गाँधी आदि के दलित कार्यक्रम सहानुभूति से उत्पन्न दया और धन की शैली में किया गया उद्धार या सुधार कार्यक्रम था, जो मुख्यधारा की साजिश और षड्यन्त्र को खारिज़ किये बिना ही दलितों की स्थिति में सुधार लाना चाहते थे, जबकि अम्बेडकर आदि के आन्दोलन सम्पूर्ण व्यवस्था में सुधार लाकर दलितों की स्थिति में सुधार लाना चाहते हैं।''

डॉ0 तुलसीराम की इच्छा इंसान बनकर नहीं बल्कि पशु–पक्षी बनकर जीना है, क्योंकि यह अपशकुन था अनिष्टकारी तथा रूढ़ियों की पीड़ा से उत्पन्न अपमान, घृणा का विष नहीं पीना पड़ता। जाति और वर्णाश्रयी मूल्यों पर आधारित हिन्दू धर्म कितने गंदे और नृशंस तरीके से मान का शोषण करता है, इसी कारण लेखक हिन्दू धर्म कितने गंदे और नृशंस तरीके से मानव का शोषण करता है, इसी कारण लेखक हिन्दू धर्म द्वारा रचित ढोंग–पाखण्ड को शोषण का शस्त्र समझता है। उन्होंने इसी परम्परा का विरोध अपनी

अनुरूपी लेखक / संयुक्त लेखक

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.- IV, Issues-38, YEAR- Oct.-Dec.2025

आत्मकथा मुर्दहिया में किया है – मनुष्य की स्वतन्त्रता की भावना और उसकी अभिव्यक्ति दलित साहित्य की प्रथम प्राथमिकता है। ''मानव मुक्ति के सभी रूपों और अन्तरंगों के दर्शन दलित साहित्य में दिखाई पड़ते हैं। स्वतन्त्रता केवल राजनीतिक ही नहीं होती; धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक भी होती है। इसीलिए दलित साहित्य की अन्तर्निहित धारा में स्वतन्त्रता का भाव प्रधान रूप में विद्यमान है। समता, बन्धुता और स्वतन्त्रता की चेतना जैसे मूल तत्त्वों पर दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र टिका हुआ है। दलित साहित्य जाति–व्यवस्था के दासत्व और दलितत्व से मानवीय मुक्ति का आन्दोलन है, एक मुक्ति–संघर्ष।

आज समाज में केवल झूठ, बेईमानी, फरेब, हिंसा, वर्ग–विभेद, घृणा आदि भरे पड़े हैं। साहित्य की दुनिया में केवल यह दिखावा की बातें होकर रह गयी है। इसमें ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' जैसी सार्थक ध्वनियाँ निर्रथक है। समाज में व्याप्त प्रथाएँ और परम्पराएँ केवल प्रपंचना है। इस आडंबरपूर्ण व्यवहार में दलितों के साथ भी स्वार्थी लोग ही खड़े होते हैं जिनको अपनी राजनीति की दुकान चलानी हो। ''इसलिए इसकी सामाजिकता स्पष्ट है। इसकी सामाजिकता है – समता, सम्मान, बन्धुत्व, प्रेम, सह–अस्तित्व और स्वतन्त्रता। जाहिर है प्रेम, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता की बात तो सभी साहित्य करते हैं, किन्तु सम्मान और मानव–मुक्ति के लिए कोई प्रतिबद्ध साहित्य ही संघर्ष करता है। दलित साहित्य सरोकारों का साहित्य है, इसलिए इसमें कलात्मक सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्व एवम् रूझानों को खोजना व्यर्थ है। यह केवल और केवल समाजशास्त्रीय विमर्श पर खड़ा है। एक बात और है जिस पर विचार किया जाना चाहिए। दलित चेतना पर यह बार–बार आरोप लगाया जाता है कि वह दलितों के आर्थिक मुद्दों को नहीं उठाती, दलित आन्दोलन केवल सामाजिक समस्याओं और जातिजनित भेदभाव की ही बातें करता है। आर्थिक रूप से सम्पन्न दलितों के साथ भी समाज का वही रवैया है। समाज में उनकी पहचान वही रहेगी जो है। उनकी आर्थिक छवि सुधर सकती है परन्तु उनकी पहचान नहीं। कहा जा सकता है कि आर्थिक सुधार से इस खाई रूपी भेदभाव को पाटना बड़ा कठिन है।

मुर्दहिया का समाज रूढ़ियों और परम्पराओं तथा अंधविश्वास में जकड़ा है। जिसमें अशुभ, अपशकुन, मौन–शुचिता, अवर्ण–सवर्ण आदि हैं। यह नृशंस हिंसक अवधारणा मनुष्यों को तो छोड़िए जीव–जंतुओं, पशु–पक्षियों और मौसम तक अपना पंजा फैलाये हुए है। मणीन्द्र ठाकुर ने 'जनसत्ता' में लिखा था कि – ''मानसिक वेदना की पराकाष्ठा यह है कि समाज कुछ लोगों को अपशकुन मानता है – जैसे विधवा, काना, निर्वंश या पशु–पक्षियों की श्रेणी में रखता है, जिन्हें देखने मात्र से अशुभ की संभावना रहती है।'' स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी लोगों की संकीर्ण मानसिकता धर्म द्वारा रचित चक्रव्यूह से बाहर नहीं निकल सकी। अशिक्षा और अज्ञानता ने इस खाई को और अधिक गढ्डे खोदने का ही कार्य किया न कि पाटने का।

'मुर्दहिया'' में पीड़ी की पहली अभिव्यक्ति अपशकुन की पीड़ा से होती है। तुलसीराम चेचक की बीमारी से अपनी दॉई आँख की रोशनी खो देने के कारण हिन्दू सामाजिक संरचना में मनुष्य भेद और घृणा के अद्भुत प्रतीक ''काना'' की श्रेणी में आ जाते हैं। वे लिखते हैं – भारत के अंधविश्वासी समाज में ऐसे व्यक्ति अपशकुन की श्रेणी में हमेशा के लिए सूचीबद्ध हो जाते हैं। ऐसी श्रेणी में मेरा भी प्रवेश मात्र तीन साल की अवस्था में हो गया। अतः घर से लेकर बाहर तक सबके लिए मैं अपशकुन बन गया।

वे इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि – ''इसी तरह गाँव की एक अन्य बुढ़िया ब्राह्मणी थी, जिसका नाम किसी को मालूम नहीं था, वह सिर्फ पंडिताइन के रूप में जानी जाती थी। पंडिताइन निर्वश विधवा थी। उन्हें भी लोग देखना पसंद नहीं करते थे। गाँव भर के लोगों का कहना था कि पंडिताइन का सामना हो जाने से किसी काम में सफलता नहीं मिलेगी। किसी काम से जाते हुए यदि पांडे का सामना किसी से हो जाता तो वह लौटकर घर वापस आ जाता और थोड़ी देर ठहर कर अपशकुन मिटाता फिर वह काम पर जाता। यद्यपि जग्गू पांडे और पंडिताइन बेहद शराफत से बातें करते थे, फिर भी उन मान्यताओं के चलते वे बिना किसी कारण अपमानित होते रहते थे।''

ब्राह्मण और उच्च जातियों की दुर्भावना के कारण शूद्र सदैव पददलित रहे। उन्हें उनके सभी अधिकारों से वंचित रखकर यह उच्च वर्ग वाले अपना वर्चस्व बनाये रखने में ही विश्वास किए। इनके द्वारा बनाये गये नियम शूद्रों के विकास में अवरोध उत्पन्न किए। मुंशी प्रेमचन्द ने सामाजिक दृष्टि से सबसे बड़ा शोषण चक्र ब्राह्मणी व्यवस्था और पुरोहितवाद को ही माना है, जिसकी उपज तथाकथित भारतीय संस्कृति हैं दलित सन्दर्भों से जुड़ी प्रेमचन्द की रचनाएँ इसी धार्मिक और ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर प्रहार करती है। 'निराला' के साहित्य में भी हरिजोद्धार की बातें हैं, जिससे पाठकों के मन में व्याप्त छुआछूत जैसी घिनौनी, क्रूर और अमानवीय व्यवस्था के प्रति स्वतः विद्रोह भाव जग उठता है। अस्पृश्यता की यह हृदय विदारक त्रासद पीड़ा का कटु यथार्थ हमारे सामाजीकरण का अभिन्न अंग बन चुका है। ऊँच–नीच के इस तंग गलियारे में दलित ऐसा फँसा हुआ है कि उसे बाहर निकलने का मार्ग नहीं सूझता।

''कक्षा चार में ही एक बार मिसिर बाबा पानी पिलाने कुएँ पर गए। घिर्री पर डोर चढ़ाकर बाल्टी को कुएँ में डाला। मैंने कुतूहलवश कुएँ के चबूतरे को एक उंगली से क्षणभर के लिए छू दिया, किन्तु मिसिर बाबा बाल्टी को कुएँ में डुबाते हुए नीचे से कनखिया पीछे देख रहे थे और मुझे उंगली चबूतरे से लगाते हुए उन्होंने देख लिया। मेरे द्वारा इस महापातकी क्रिया से उनका ब्राह्मणत्व इतना आहत हुआ कि उनके हाथ से डोर छूट गई और बाल्टी कुएँ की तलहटी में जा पहुँची। मिसिर शोर मचाते हुए मुंशी जी के पास दौड़े और चिल्लाते रहे कि चमरा ने कुआँ छू लिया। मैं बहुत डर गया था। उस दिन मुंशी जी दिन भर रूक–रूककर गालियाँ देते रहे। इसके बाद मैं कभी पानी पिलाने के लिए कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाया।''

जाति आधारित 'अस्पृश्यता' का चरित्र तब प्रत्यक्ष प्रदर्शित होता है जब दलित समाज लिपि और ज्ञान को प्राप्त करने के लिए स्कूलों से जुड़ता हैं जिसको मुर्दहिया और सम्पूर्ण दलित साहित्य परत दर परत उकेर कर रखता है। 'मुर्दहिया' में तुलसीराम इसी पीड़ा से आहत होकर लिखते हैं कि – संकटा सिंह मेरे गाँव के पूरब में करीब तीन कि0मी0 दूर स्थित बारी गाँव के एक बड़े क्षत्रिय जमींदार के बेटे थे। उनकी उम्र भी मेरे ही बराबर करीब पाँच–सात की थी, किन्तु वे बहुत ही समझदार और दयालु स्वभाव के थे। वे बहुत जल्दी लिखना सीख गए थे। उस समय स्कूलों में भी छुआछूत का प्रचलन बहुत ज्यादा था और सवर्ण छात्र प्रायः दलित छात्रों से नहीं मिलते–जुलते थे। किन्तु संकटा सिंह अपवाद थे।

ब्राह्मणवादी समाज में दलितों का अस्तित्व न के बराबर है। मानों ऐसा प्रतीत होता है कि उनका जन्म केवल दास बने रहने के लिए ही हुआ है। उनका दायरा भी अत्यन्त सीमित और संकीर्ण है। समकालीन समाज में दलितों के प्रति उच्च वर्ग का रवैया उनका मान–सम्मान सब–कुछ नगण्य है। यदि हम स्वयं लेखक की आत्मकथा का अध्ययन करें तो यह समस्या उनकी पीड़ा का प्रथम विषय बन जाता है।

दलितों को सर्वहारा मानकर इस प्रश्न को मार्क्सवादी–प्रगतिवादी साहित्य पहले ही उठा चुका है। दूसरे, दलित जब समानता की बात करते हैं, तो उसमें केवल सामाजिक समानता ही नहीं होती, सभी दृष्टियों से समान होने की शर्त शामिल होती है। दलितों के

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.- IV, Issues-38, YEAR- Oct.-Dec.2025

साथ पहला संकट पहचान का संकट है। इसलिए पहले वह स्वाभिमान, अस्मिता और सम्मान की बात करता है। 'शोषण का समाजशास्त्र'' ने शिक्षा को दलितों से दूर रखा। ब्राह्मण जानते थे यदि चमार जाति के लोग पढ़–लिख लिए तो उन्हें हमारे द्वारा बनाये गये इस व्यवस्था की सच्चाई का पता लग जायेगा। कुछ भ्रान्तियाँ चमारों ने जान–बूझ कर भी फैला रखी थी यही कि हरवाही से स्वर्ग मिलता है तथा ब्राह्मणों की सेवा ही हमारा धर्म है। आज भी दलितों को शिक्षा से जुड़ने न देने की पीछे वही मन्तव्य छिपा हुआ है। उन्हें इस प्रक्रिया से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रोकना उनकी प्रगति या उत्थान को बाधित करना है। यही धारणा प्राचीन काल से अभी तक चली आ रही है। उसी श्रेणी में लेखक का समाज भी प्रतिबद्ध है। ''हमारा परिवार संयुक्त से वृहत् होने के साथ–साथ वास्तव में एक अजायबघर ही था, जिसमें भूत, प्रेत, देवी–देवता, संपन्नता–विपन्नता, शकुन–अपशकुन, मान–अपमान, न्याय–अन्याय, सत्य–असत्य, ईर्ष्या–द्वेष, सुख–दुःख आदि आदि सब कुछ था, किन्तु शिक्षा कभी नहीं थी।''

वर्चस्ववादी समाज द्वारा निर्मित इस व्यवस्था की चपेट में दलित स्त्री का हाल–बेहाल था। क्योंकि जीवन के प्रत्येक पग पर स्त्री का शोषण और अत्याचार भयावह रूप में विद्यमान था। इसलिए स्त्री मुक्ति का मोर्चा खुलना या उसे उसके हक की लड़ाई में साथ देना साहित्य और समाज दोनों का सबसे बड़ा मुद्दा होना चाहिए। परन्तु ऐसा पूर्व में न था। आधुनिक काल में आकर साहित्यकारों ने इस ओर अपनी जागरूकता निभायी। तुलसीराम भी अपनी 'मुर्दहिया' में स्त्री का दुःख दादी, माँ, बहन, पड़ोसी की पीड़ा को देखकर करते हैं। अनुभव की नाव में बैठकर उन्होंने दलित स्त्री पर हो रहे अत्याचार और शोषण की यथार्थ नग्न रूप प्रस्तुत किया है। स्त्री की अस्मिता उसका अधिकार इस समुदाय में 'न' के बराबर था। इतना ही नहीं पुरूष और उच्च वर्ग के पुरूषों के द्वारा उनका शोषण बहुत ही घिनौने रूप में हो रहा था।

''जारकर्म सामन्ती सोच और प्रवृत्ति का परिचायक है। किसी भी समाज में ऐसे सम्बन्ध निन्दनीय है। बलात्कार और जबरन जारकर्म तो पुरूषों की सामन्तवादी प्रवृत्ति का द्योतक है ही; किन्तु जहाँ स्वेच्छा से ऐसे (विवाहेतर) संबंध होते हैं, वहाँ इस मामले में स्त्रियों को भी कम जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। जहाँ तक गैर–दलित पुरूषों का दलित स्त्रियों के प्रति आकर्षण और सुलभता की बात है, तो ऐसा दलित पुरूषों का गैर–दलित स्त्रियों के साथ भी होता रहा है।'' तुलसीराम अपने ''मुर्दहिया'' में औरत की इज़्ज़त के विषय में लिखते हैं जहाँ अरहर की खेत में रोज एक स्त्री का हरण हो रहा था। उसके साथ यह अमानवीय और बीभत्स रूप प्रतिदिन घटित घटनाओं के रूप में हो रही थी। तुलसीराम का मार्मिक हृदय इस करूण रूप को रेखांकित करने से नहीं हिचकता। स्त्री के साथ व्यभिचार करते समय यह उच्च वर्ग अपने धर्म और जाति को क्यों नहीं देखते? तब उनका ब्राह्मणी व्यवस्था और पुरोहित धर्म कहाँ चला जाता है। इस हृदयविदारक और अमानवीय त्रासदी का घिनौना रूप मुर्दहिया में चित्रित है – सच तो यह है कि मानवीय प्रवृत्ति के अनुरूप स्त्री या पुरूष यौन–सम्बन्धों में जाति या धर्म नहीं देखते। ये बन्दिशें केवल शादी–विवाह जैसे सामाजिक सम्बन्धों में ही देखी जाती है। स्त्री–पुरूष संबंधों का जीवविज्ञान प्रायः पुरूष सम्बन्धों के समाज विज्ञान से अधिक उदार और मानवीय होता है। इसलिए इस पर गहराई से विचार करने की जरूरत है।

हमारे समाज में अछूत समस्या बहुत बड़ी समस्या है। इसका समाधान धर्मान्तरण से नहीं बल्कि व्यक्ति की मानसिकता समाज और धर्म को लेकर बदलनी चाहिए। लेखक को धर्म के स्थान पर कई बार जाँति–पाति और छुआछूत जैसी दुर्भावना का शिकार होना पड़ा। समाज के इस व्यवहार से तंग आकर हिन्दुओं में चमार जाति के लोगों ने धर्मान्तरण को ही श्रेष्ठ मार्ग समझा। कई बार लेखक भी अम्बेडकर की तरह बौद्ध धर्म स्वीकार करना चाहा परन्तु कुछ ऐसे संस्कार बचे रहे जिसके कारण उसके हृदय ने सदैव रोके रखा। 'बौद्ध धर्म' और 'आर्य समाज' इसका विरोध किया, परन्तु संकीर्ण मानसिकता में जकड़े समाज को बन्धन मुक्त न कर सके। हिन्दू धर्म से वहिष्कृत या धर्मान्तरण कर चुके लोगों को पुनः हिन्दू बनाये रखने के लिए अन्य हिन्दुओं ने अथक प्रयास करने आरम्भ कर दिए। दलितों के अभावमय जीवन का जीवन्त रूप सही मायने में मुर्दहिया में चित्रित है। डॉ0 तुलसीराम ने इस बदहालपूर्ण जीवन शैली में व्यतीत उस रूप को व्याख्यायित किया है जो अभी भी विद्यमान है। मुर्दहिया में दलित समाज के भूख से उत्पन्न इस करूण कहानी को उसी तरह रखा है जो उन्होंने इस करूण कहानी को देखा–सुना और भोगा है।

लेखक अपनी रोटी–पानी के संघर्ष को मुर्दहिया में व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि – ''दादी ने बताया कि जब वह ब्याह कर हमारे गाँव आई तो देखा कि गाँव में किसी की गाय, भैंस या उसका चमड़ा निकाला जाता, फिर उसके बाद गड़ासे और कुल्हाड़ियों से काट–काटकर उसका मांस काटने का काम प्रायः महिलाएँ करती थीं।'' भूख से उपजी इस त्रासदपूर्ण जीवन में दलितों का गुजारा डांगर को खाकर करना पड़ता था। उनके जीवन में मज़दूरी भी पेट भरने में असमर्थ थी क्योंकि जिनके वहाँ यह काम करते थे वह जमींदार और बनियाँ भी इनका जमकर शोषण करते थे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सबको समान अधिकार प्राप्त हो गया। इस जनतंत्रीय राजनीतिक शक्ति की ही देन है कि 'इ चमारा' से 'यह हरिजन का बेटा है' और 'येही चमारै से पिटवाइब' से 'हमारे स्कूल का सबसे अच्छा विद्यार्थी है' के रूप में 'आनरेफिक' अंतरण होता है। यह सम्मान, स्वाभिमान इसी जनतंत्रीय राजनीतिक शक्ति के बिना असंभव है। शायद भीमराव अम्बेडकर और हमारे भारतीय सामाजिक निर्मिति की देन है कि सबको एक समानता की दृष्टि से देखने का अधिकार मिला परन्तु पूर्णरूपेण राजनीति में हिस्सा लेने से यह प्रजातियाँ कोसों दूर हैं क्योंकि इस राजनीति पर पूरी तरह बाजारवाद और पूँजीवाद का वर्चस्ववादी संस्कार हाबी है। खुद लेखक भी इस राजनीति के चक्र में फँस कर उसकी सच्चाई को उद्घाटित करता है, जैसे –

''पहली बार सन् 1959–60 के जाड़ों में हमारे क्षेत्र के जहानागंज कस्बे में ब्लॉक विकास केन्द्र खोला गया था, जिसके तहत विभिन्न स्कूलों में कृषि प्रदर्शनी आयोजित होने लगी। अनेक सरकारी अधिकारी जैसे ए0डी0ओ0, वी0डी0ओ0, तहसीलदार तथा डी0एम0 आदि इन स्कूलों का दौरा करने लगे। ऐसी प्रदर्शनियों के अवसर पर मुझे यह अनुभव होने लगा था कि दो वर्ष पहले कोड़ा तापते हुए मुन्नर चाचा जो कुछ भी रूस में 'समोही खेती' या नेहरू की योजना के बारे में बताते थे, उसका साकार रूप इनमें दिखाई देने लगा था। उस समय हमारे स्कूल पर बहुत बड़ा मेला लगा हुआ था। प्रदर्शनी में लहलहाती फसलों के बड़े–बड़े नमूने रखे गए थे। वहाँ बड़ी संख्या में किसान आते थे। शाम के समय बड़े स्तर पर सांस्कृतिक कार्यक्रम ब्लाक द्वारा आयोजित किये जाते थे। उस समय जहानागंज ब्लाक के एक मशहूर 'बिरहा गायक' थे, जो अपनी गायन शैली में विकास कार्यक्रमों को भी शामिल किये हुए थे। उनका नाम था जयश्री यादव। लोहे का करताल लगाते हुए जब बुलंद आवाज में इन लाइनों –

- 'होइहैं अब कल्यान पंचवर्षीय योजना से
- हरा–भरा खेत–खलिहान पंचवर्षीय योजना से।'
- को गाते थे, तो सभी रोमांचित हो उठते थे।''

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.- IV, Issues-38, YEAR- Oct.-Dec.2025

दलितों के लिए आर्थिक रूप से सम्पन्न होना एक बड़ा मसला है। जिसमें दलित की सारी समस्या शामिल है। अमीरी–गरीबी की यह खाई इतनी गहरी है कि इसमें दलित की सारी पीड़ा जननी के रूप में दिखलाई पड़ती है। जिसमें से अछूत का निकलना सम्भवतः कठिन है। गरीबी से लड़ता दलित शिक्षा कहाँ से प्राप्त करता। उसे रोटी से आगे सोचने–समझने की क्षमता बचती कहाँ है? उसे तो बस भूख से लड़ना है। गरीबी से उठना और सम्मान पाना बहुत कठिन है क्योंकि – सवर्ण चेतना या साहित्य और समाज की मुख्यधारा गरीबी को ही दलितों का सबसे बड़ा रोग मानती है और उसकी दृष्टि में जो अमीर हो गया, उसका दलितत्व मिट जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दलित साहित्य का समाजशास्त्र – हरिनारायण ठाकुर, पृ0 76.
2. दलित साहित्य का समाजशास्त्र – हरिनारायण ठाकुर, पृ0 76–77, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 2018.
3. मुर्दहिया – डॉ0 तुलसीराम, पृ0 12, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2010.
4. मुर्दहिया – डॉ0 तुलसीराम, पृ0 23.
5. मुर्दहिया – डॉ0 तुलसीराम, पृ0 55.
6. मुर्दहिया – डॉ0 तुलसीराम, पृ0 23.
7. दलित साहित्य का समाजशास्त्र – हरिनारायण ठाकुर, पृ0 160.
8. मुर्दहिया – डॉ0 तुलसीराम, पृ0 15.
9. मुर्दहिया – डॉ0 तुलसीराम, पृ0 104–105, राजकमल प्रकाशन, आठवां संस्करण, 2021.

*****